श्वेतपत्र संख्या—१

हिन्दी ही क्यों ?

—श्री पं० चन्द्रगुप्त वेदालंकार

ओ३म्

हिन्दी ही क्यों ?

एक अद्भुत चित्र

कलकत्त में धर्मतल्ला नाम का एक बाजार है। उसे जहां चित्तरंजन एवेन्यू मिलता है, वहां एक मस्जिद है। मस्जिद के सम्मुख एक छोटा सा मैदान है। मैदान पर प्रति सायंकाल फूल और चित्र बेचने वाले इकट्ठे होते हैं। इन बेचने वालों में भारतीयों के अतिरिक्त चीनी और जापानी भी होते हैं। बहुत दिन नहीं बीते, मैं उधर से जा रहा था। सहसा एक चीनी महिला आगे बढ़ी और मेरे सम्मुख एक चित्र रख दिया। मैंने ऊपर-नीचे, दायें-बायें सभी ओर देखा उस पर कुछ न लिखा था। वह देवी चुप थी। मुंह से कुछ न बोलती थी। संकेत करना भी उसे अभीष्ट न था। उस चित्र का उत्तर वह मुझसे ही चाहती थी। पाठक! वह किसी देवता या महात्मा का चित्र न था। अभिनेता व अभिनेत्री की भावना उससे कोसों दूर थी। उस चित्र के बीच में एक छोटा सा शिशु बैठा था और दोनों ओर दो मनुष्य खड़े थे जो उसे अपनी २ ओर आने का संकेत कर रहे थे। इस चित्र में उस देवी ने क्या भाव भरा था सो मैं नहीं जानता। सम्भव है, उसने शिशु को चीन के रूप में और दो व्यक्तियों को रूस और जापान के रूप में चित्रित किया हो। परन्तु मैं तो वह भाव बताना चाहता हूं जो उसे देखते ही मेरे मन में उठा। मैंने उस दिव्य शिशु को भारतरूप में और दो व्यक्तियों को दो भाषाओं का प्रतिनिधि जाना। एक हिन्दी का और दूसरा उर्दू का। एक वीर शिरोमणि सावरकर और दूसरे मुहम्मद अली जिन्ना। आज विचारना है कि भारतरूपी शिशु दोनों में से किसका अनुसरण करे?

मुस्लिम शासकों का हिन्दी प्रेम

श्रीयुत जिन्ना और उनके साथियों का कहना है कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है मुसलमानों की नहीं, मुसलमान तो उर्दू ही बोलते हैं अतः उर्दू ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। जहां तक इतिहास और न्याय की मांग है मुझे दुःख से कहना पड़ता है कि मैं इस कथन में तनिक भी सचाई नहीं पाताहूँ। यदि

२००-३०० वर्ष पीछे के भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात किया जाये तो ज्ञात होगा कि मुस्लिमकाल में हिन्दी को वह स्थान प्राप्त था जो आज ब्रिटिश राज्य में भी उसे प्राप्त नहीं है। मुस्लिम शासक हिन्दी से उतना ही प्रेम करते थे जितना फारसी से। वे हिन्दी पर इतने रीझे कि उन्होंने अपने सिक्कों तक पर उसे स्थान दिया। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर पानीपत की प्रथम लड़ाई अर्थात् ५८९ हिजरी से लेकर ९६४ हिजरी तक ३७५ वर्ष होते हैं। इस बीच में १६ सुल्तान हुए और ऐबक, ख़िल्जी, तुग़लक, सय्यद और लोदी—इन पाँच घरानों ने शासन किया। इन पठान शासकों के सिक्कों पर निरपवादरूप से देवनागरी अक्षरों और हिन्दी का प्रयोग हुआ है। सबके नामों के पूर्व 'श्री' शब्द का व्यवहार है। स्मरण रहे यह वही 'श्री' शब्द है जिसके नाम से जिन्ना और उनके साथी आज नाक-भौं चढ़ाते हैं और जिसे वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतीक चिन्ह (सील) पर भी देखना पसन्द नहीं करते। परन्तु इन्हीं के पूर्वज आज से कुछ ही वर्ष पूर्व इसी शब्द को अपने नाम के पूर्व लगाने में गौरव समझते थे। वे 'मियाँ' या 'मौलवी' कहलाने की अपेक्षा 'देवः', 'वीरः', 'हमीरः', 'आसावरी' आदि कहलाना अधिक रुचिकर मानते थे। यथा—'श्री हमीर महमद साम', 'सुरिताण श्री समसदीन', श्री सुलतां गयासुदीं' आदि। इतना ही नहीं मुहम्मदगौरी तो और आगे तक गया। उसने १०२७ ई० में लाहौर से एक चाँदी का सिक्का चलाया था जिसके एक पृष्ठ पर नागरी लिपि में संस्कृत भाषा में यह वाक्य खुदा है—'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद' और दूसरे पृष्ठ पर है—'अयम् टंकम् महमूदपुर (लाहौर) घटिते हिज-रियेन संवति ४१८।' मुग़लकाल में सम्राटों की ओर से पारितोषकरूप में जो पदक अमीर-उमरावों को बाँटे जाते थे उन पर भी हिन्दी और देवनागरी अक्षरों को स्थान था। मैं पूछता हूँ क्या यह मुस्लिम शासकों का हिन्दी के प्रति दृढ़ अनुराग का परिचायक नहीं? इन ६००-७०० वर्षों में भारत में जिन्ना जैसा कोई व्यक्ति पैदा नहीं हुआ जो उनके हिन्दी-प्रेम को छिन्न-भिन्न करता। राजनीति की दृष्टि से भी यदि मुसलमानों को इस देश में शासन करना था और प्रजा का सहयोग प्राप्त करना था तो उनके लिये आवश्यक था कि वे इस देश की भाषा-हिन्दी को अप-नाते। जिस भाषा को मुस्लिम शासकों ने बिना किसी दबाव के स्वयं सिक्कों तक पर स्थान दिया और उसके प्रयोग में न केवल आत्मीय आनन्द अपितु गौरव भी अनुभव किया उसे कौन न्यायप्रिय व्यक्ति केवल हिन्दुओं की भाषा कह कर ठुकरा सकता है?

हिन्दी लोकभाषा तथा राजभाषा के रूप में

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि एक समय था जब भारत की राजभाषा और सम्भवत: लोकभाषा भी संस्कृत थी। इसका प्रभाव मुहम्मदग़ौरी के सिक्के पर खुदे वाक्य से स्पष्ट है। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रथा बदलने लगी। सर्वसाधारण में संस्कृत के स्थान पर प्राकृत का प्रचार होने लगा। यही प्राकृत कालक्रम से हिन्दी के रूप में बदल गई। मुसलमानों के आगमन के समय प्राकृत हिन्दी का रूप धारण कर सर्वसाधारण की भाषा बन रही थी और शासक लोग जनता से सम्पर्क रखने के लिये लोकभाषा को राजभाषा के रूप में अपना रहे थे। १६ वीं से लेकर १८ वीं शताब्दी तक के अनेक विदेशी व्यापारियों और प्रचारकों ने अपने लेखों में इस बात की पुष्टि की है।

(क) सन् १७२७ में हैमिल्टन लिखता है:—"मैं हिन्दुस्तानी में बोल रहा था जो मुग़लों के विस्तृत राज्य की प्रचलित भाषा है।"

(ख) सन् १६०४ में जेरोम ने आगरे से पाधरी कोर्सी के विषय में लिखा है—"उसने फारसी भाषा सीख ली है और हिन्दुस्तानी सीखनी आरम्भ कर दी है जो इस देश की भाषा है। उसकी ज्ञानपिपासा और योग्यता ऐसी है कि वह शीघ्र ही अरबी पर भी अधिकार प्राप्त कर लेगा।"

(ग) सन १६९७ में वालेन्टीन हिन्दुस्तानी भाषा की चर्चा करते हुए लिखता है—"ऐबिसीनिया का राजदूत इस भाषा में बातचीत करता था और ट्रिव्युआ के गवर्नर का मन्त्री उसका अभिप्राय समझता था।"

(घ) सन् १६७३ में फ्रायर लिखता है—"दरबार की भाषा फारसी है और जनता की भाषा हिन्दुस्तानी है।"

(ङ) १५८१ में पाधरी ऐक्वा वीवा अपने पत्र में लिखता है—"जब मैं अपने दुभाषिये डोमिंगो पिरीज का एक हिन्दुस्तानी स्त्री से विवाह करा रहा था तो मैं तो फारसी बोलता था और बादशाह अकबर जो वहाँ विद्यमान था, फारसी वाक्यों का हिन्दुस्तानी में अनुवाद करता जाता था।"

(च) १८३३ में आर्म लिखता है—"पांडीचरी के दो कौंसिली कैम्प में गये हैं। उनमें से एक अच्छी तरह हिन्दुस्तानी और फारसी जानता है क्योंकि सुल्तानों के दरबार में यही दो भाषायें व्यवहार में आती हैं।"

ये उद्धरण 'जनरल रॉयल एशियाटिक सोसायटी' बङ्गाल सन् १८८६ हाब्सन-जाब्सन से उद्धृत किये गये हैं। इन उद्धारणों में 'हिन्दुस्तानी' शब्द 'उर्दू' के अर्थ में प्रयुक्त न होकर उस भाषा के लिये आया है जो अरबी-फ़ारसी से अतिरिक्त व्यवहार में आती थी, जिसे हिन्दू तथा मुसलमान दोनों बोलते थे और जो लोकभाषा के साथ साथ राज्य में भी आदर पाती थी। यह निश्चित ही 'हिन्दी' थी। यह बात उद्धरणों की भाषा से ही पुष्ट हो जाती है कि वह 'हिन्दी' है अथवा 'उर्दू' ?

हिन्दी के उत्पादक मुसलमान भी थे

मुसलमानों का हिन्दी प्रेम यहीं तक नहीं रुका। उन्होंने अपनी प्रतिभा के चमत्कार भी हिन्दी में दिखाये जिनके लिये आज भी हिन्दी-साहित्य अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है। मुस्लिम काल में लगभग ३६० मुस्लिम लेखक ऐसे हुए जिन्होंने हिन्दी को अपनाया। ये सब हिन्दू से मुसलमान न बने थे। इनमें से अनेकों विदेशी थे और यदि ये सब मतपरिवर्तित ही मान लिये जायें तो ८ करोड़ मुसलमान क्या अरब और ईरान से आये हैं ? इनमें से भी तो ९०% कन्वर्ट हैं और केवल १०% विदेशी हैं । इनको भी यहाँ रहते हुए इतना समय बीत गया है कि इनकी भाषा और इतिहास वही हो गया है जो इनके पड़ौसी हिन्दू का है। अब ये भी स्वदेशी बन गये हैं। इनको भी वही अधिकार प्राप्त है जो हिन्दू को प्राप्त हैं। मुसलमानों को दो में से एक विकल्प चुनना होगा। या तो वे अपने को विदेशी मानें तब उन्हें अधिकार मांगने का अधिकार नहीं और यदि अधिकार मांगते हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि वे अपने को भारतीय समझते हैं। जब भारतीय हैं तो उन्हें अपनी भाषा भी भारतीय बनानी होगी। नीचे कुछ मुस्लिम कवियों की कवितायें दी जाती हैं। जिनमें भाषा के साथ साथ भारतीयता की भी सुन्दर झलक है:—

(क) मीर ख़ुसरो, १४ वीं शताब्दी—

आदि कटे से सबको पालै, मध्य कटे से सबको घालै।
अंत कटे से सबको मीठा, सो 'ख़ुसरो' मैं आँखों डीठा॥ (काजल)

(ख) मलिक मुहम्मद जायसी, १६ वीं शताब्दी—

सरवर-तीर पदमिनी आई, खोपा छारी केस मुकलाई।
ससिमुख अंग मलयगिरि वासा, नागिन झांप लीन्ह चहुँ पासा॥

(ग) अकबर शाह १७ वीं शताब्दी—

जाको जस है जगत् में, जगत् सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत 'अकब्बर' साहि॥

(घ) रहीम (अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना) १७ वीं शताब्दी—

चित्रकूट में रमि रहे, 'रहिमन' अवध नरेश।
जा पै बिपदा परत है, सो आवत यहि देश॥
धूर धरत निज सीस पै, कहो 'रहीम' केहि काज ?
जा धूरि मुनि पतनी तरी, सो ढूंढत गजराज॥

रहीम ने संस्कृतमय हिन्दी में भी पद्य-रचना की। उसे भी देखिये:—

कलित ललित माला वा जवाहर जड़ा था,
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था।
कटि-तट बिच मेला पीत सेला नवेला,
अलिबन अलबेला यार मेरा अकेला॥

(ङ) रसख़ान, १७ वीं शताब्दी—

मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गले पहिरौंगी।
ओढ़ि पीताम्बर लै लकुटि बन, गोधन ग्वारन संग फिरौंगी।
भाव तो मेरो वही 'रसख़ानि' सो तेरे कहे सब स्वांग भरौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरान धरौंगी॥

अपिच—

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौं निधि के सुख, नन्द की गाय चराय बिसारौं।
नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के, वन-बाग़ तड़ाग निहारौं।
केतिक हूँ कलधौत के धाम करीर के कुंजन ऊपर वारौं॥

किञ्च—

मानुष हों तो वही 'रसखान' बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हों तो कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन॥

(च) मुबारक, १७ वीं शताब्दी—

बाजत नगारे मेघ ताल देत नदी नारे,
झींगुरन झांझ भेरी बिहँग बजाई है।
नीलग्रीव नाचकारी कोकिल अलापचारी,
पौन बीनधारी चाटी चातक लगाई है।
मनिमाल-जुगुनू 'मुबारक' तिमिर थार,
चौमुख चिराक चारु चपला चलाई है।
बालम, बिदेस नये दुख को जनमु भयो,
पावस हमारे लाई बिरह बधाई है॥

(छ) ताज, १७ वीं शताब्दी—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं नमाज हू भुलानी है,
तजे कलमा कुरान सारे गुननि गहूंगी मैं।
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह दाघ में निदाघ ह्वै दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तानि सूरत पै,
हौं तो मुग़लानी हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं॥

अपिच—

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला कहूं देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै नाक मोती सेत सोहै,
कान मोहे मन कुंडल मुकुट सीस धारा है।
दुष्टजन मारै सतजन रखवारे 'ताज',
चित हित वारे प्रेम प्रीति कर वारा है।
नन्द जू का प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावन वारा कृष्ण साहेब हमारा है॥

(ज) आलम, १८ वीं शताब्दी—

जा घर कीन्ह विहार अनेकन, ता घर काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।

आलम जौन से कुँजन में करी, केलि तहां अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिन की, अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

(झ) शेख़ रँगरेजिन १८ वीं शताब्दी—

प्रेम रंग पगे जगमगे जगे जामिनी के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि-झुकि झँपि उघरत हैं।
'आलम' सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबै को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि मैं रहत हैं॥

(ञ) वाहिद, १८ वीं शताब्दी—

सुन्दर सुजान पर मन्द मुसकान पर, बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहै।
मूरति विशाल पर कंचन की माल पर, खंजन सी चाल पर खौरन खगी रहै॥
भौहें धनु नैन पर लोने युग नैन पर, शुद्ध रस बैन पर 'वाहिद' पगी रहै।
चंचल से मन पर साँवरे बदन पर, नन्द के नन्दन पर लगन लगी रहे॥

(ट) रसलीन, १८ वीं शताब्दी—

तिय सैसव जोबन मिले भेद न जान्यो जात।
प्रात समै निसि दौस के दुवौ भाव दरसात॥

(ठ) नूरमुहम्मद, १६ वीं शताब्दी—

एक कहा लट सों मुख सोभा, होति अधिक लखि मुरछा लोभा।
एक कहा लट जामिनि होई, राति जानि जोगी गा सोई।
एक कहा मुख तिल लट कारी, संबुल भँवर अहइ फुलवारी।
एक कहा लट नागिन कारी, डसा गरल सो गिरा भिखारी।
एक कहा मुख ससिहि लजावा, लट जोगी को मन अरुझावा।
सबन बखाना जो जस बूझा, इंद्रावति कहँ आगम सूझा।
कहा तपी अस कहते आगे, गरब न करूँ सुन्दरि डर त्यागे।
यह मुख यह तिल यह लटकारी, अंत होई इक दिन सब छारी॥

ऐसे १ नहीं, ५ नहीं, २० नहीं, १०० नहीं, कासिमशाह फाजिलशाह, आदिलशाह, मुहम्मदशाह, मुहम्मद बाबा, यूसुफखाँ, याकूबखाँ, ईसवीखाँ, आसिफखाँ, अकबरखाँ, आजमखाँ, अलिमुहिबखाँ, अब्दुलरहमान, अब्दुलजलील, अहमदुल्ला, रहमतुल्ला, काजी कदम, काजिमअली, जैनुद्दीन, मीर अब्दुलवाहिद, मीरअहमद, मीरहसन, मीररुस्तम, खुमान, महबूब हुसैन आदि ३०० से भी अधिक ऐसे मुसलमान हुए जिन्होंने हिन्दुओं की ही भाँति हिन्दी को अपनाया। वे मुसलमान थे और अन्त तक मुसलमान रहे। परन्तु इस्लाम को मानते हुए भी उन्होंने भारतीय भाषा और भारतीय महापुरुषों का आदर किया। हिन्दी केवल हिन्दुओं की ही बपौती नहीं। यह तो दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों से फूली-फली है। हिन्दी देवी की यदि एकभुजा हिन्दू है तो दूसरी मुसलमान। हिन्दी साहित्य के रथ का यदि एक चक्र हिन्दू है तो दूसरा मुसलमान। जहाँ सूर, तुलसी, केशव, कबीर, आदि हिन्दुओं ने इसे बढ़ाया वहाँ रहीम, रसखान, वाहिद और आलम ने भी इसे उठाने में कोई कसर न रक्खी। सम्भवतः इसी को ध्यान में रखकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है—"इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू वारिये।" इसी को दृष्टि में रखकर जायसी ने लिखा है—"तुर्की अरबी हिन्दी भाषा जेति आहि जा में मारग प्रेम को सबै सराहै ताहि॥"

उर्दू की उत्पत्ति

मैं उर्दू के समर्थकों से पूछना चाहता हूं कि यदि मुसलमान मुस्लिम शासन-काल में हिन्दी नहीं बोलते थे तो क्या बोलते थे? किस भाषा द्वारा वे सर्व साधारण से सम्पर्क रखते थे? क्योंकि उर्दू की उत्पत्ति तो शाहजहाँ के शासन काल में—१७वीं शताब्दी में हुई। उर्दू का उत्थान बीजापुर और गोलकुण्डा की मुस्लिम रियासतों से हुआ। मुस्लिम शासकों ने फारसी लिपि में एक भाषा लिख कर अपने सैनिकों को दी जिसका नाम 'उर्दू' रक्खा गया। 'उर्दू' का अर्थ ही 'फौजी बाजार' है। यदि मुसलमानों की भाषा उर्दू है तो क्या मेरे मुस्लिम भाई मुझे बता सकेंगे कि १६ वीं शताब्दी से पूर्व वे किस भाषा में बात-चीत करते थे? इस समय तक उन्हें भारत में शासन करते ५००-६०० वर्ष हो गये थे। इस सुदीर्घ-काल में जन साधारण के साथ वे किस भाषा का प्रयोग करते थे? मानना पड़ेगा कि हिन्दी। मैं तो इससे भी आगे बढ़ कर कहता हूं कि प्रारम्भिक उर्दू, हिन्दी की ही एक शैली थी। किन्तु कालान्तर में उर्दू वालों ने अपनी भाषा में से सुगम देसी

शब्दों को भी हटा कर उसे अरबी-फारसी से परिपूरित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वे एक ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगे जिसका अस्थि-पिंजर तो भारतीय है परन्तु जिसकी आत्मा अरब और ईरान की घाटियों से जीवन पाती है। अभी पिछले दिनों एक मुसलमान ने काका कालेलकर जी से कहा था—"हम इस मुल्क में राज करने आये सो अपनी तहज़ीब और ज़बान छोड़ देने की गर्ज से नहीं। अगर हमने फारसी की जगह उर्दू को अपनाया तो इस उम्मीद से कि हम फारसी से जो काम लेते थे वह आइन्दा उर्दू से भी लिया जा सकेगा। उर्दू को हम अपनी इस्लामी तहजीब से बिल्कुल लबरेज़ कर देना चाहते हैं। इसलिये यदि हम कौमी ज़बान के नाम पर देसी लब्ज़ों की तादाद बढ़ाते जायेंगे तो इस मुल्क में हमारी तहज़ीब ख़तरे में आ पड़ेगी"। हमें समझ नहीं आता कि मत परिवर्तन होते ही मुसलमान का इतिहास और संस्कृति कैसे बदल जाती है ? ६०% मुसलमान इसी देश के हैं और शेष भी सैकड़ों वर्षों से इस देश का अन्न-जल सेवन करने से यहीं के बन गये हैं। वे भी हिन्दू की ही भाँति व्यास, वाल्मीकि आदि ऋषियों के वंशज हैं। हिन्दू संस्कृति और साहित्य उनके लिये 'ओल्ड टैस्टामेंट' के समान है। यह विचार मुसलमान की समझ में नहीं आता। ऐसी धारणा उनकी क्योंकर बनी इसका कुछ प्रकाश १९९५ संवत् के कार्त्तिक मास की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल के लेख से कुछ उद्धरण देकर करना चाहता हूं। प्रारम्भिक उर्दू लेखक जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह फारसी लिपि में लिखी हिन्दी ही थी। दक्षिणी उर्दू कवियों ने कई प्रबन्ध-काव्यों की रचना की थी। उनमें से एक का नाम है, 'करबल-कथा' यह 'कथा' शब्द आज की उर्दू में कहां स्थान पा सकता है ? श्रृंगार की प्रेम कहानियों की रचना भी उर्दू कवियों ने की। 'वजही' की पद्य रचना का स्वरूप देखिये :—

न भुइं पर बसे वह न आसमान में,
रहा शाद उसी नार के ध्यान में।
भुलाई चंचल धन वा यों शाह कों,
कि लुभवाए ज्यों कहरुबा काह कों॥
लगा शाह उसासां भरन आह मार,
कि नजदीक ना है व गुनवंत नार।

'अफ़ज़ल' के 'बारह् मासा' की भाषा देखिये :—

सखी रे ! चैत रितु आई सुहाई,
अजहुँ उम्मीद मेरी बर न आई ।
रहे हैं भँवर फूलों के गले लाग,
मेरे सीनः जुदाई की लगी आग ॥
सखी दिन-रैन मुझ नागिन डसत है,
फिरूं दौरी तमामै जग हंसत है ।

'वली' की कविता भी देखिये :—

इस रैन अंधेरी में मत भूल पड़ूं तिससूं ।
टुक पांव के बिछुओं की आवाज सुनाती जा ॥
मुझ दिल के कबूतर को पकड़ा है तेरी लटने ।
यह् काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा ॥

पीछे शाह 'सादुल्लाह गुलशन' ने वली से निवेदन किया "ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं, इन्हें काम में ला ।" फिर क्या था, वली ने अपना रुख़ ही पलट लिया और वे ऐसी कविता करने लगे:—

जब सनम को खयाले बाग़ हुआ, तालिबे नश्शए फ़राग़ हुआ ।
फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब, नाज़नी साहबे दिमाग़ हुआ ॥

सन् १७०० में दिल्ली में "हातिम" नाम के एक कवि थे । उन्होंने तो देसी शब्दों का सर्वथा ही बहिष्कार कर डाला । उसका वर्णन उन्होंने स्वयं ही इस प्रकार किया है—"लस्सान अरबी व ज़बान फारसी कि क़रीबुल फ़हम व कसीरुल इस्त अमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली की मिर्ज़ायाने हिन्द फ़सीहाने रिंद दर महावरः दारंद मंज़ूर दाश्तः । सिवाय आँ ज़बान हिन्दवी कि आँरा भाखा गोयंद मौक़ूफ़ करदः ।" तात्पर्य्य यह कि 'हातिम' ने अरबी-फारसी के शब्द ला लाकर रखे और हिन्दी शब्दों को निकाल फेंका । इतने पर भी उर्दू कविताओं में भारतीय कथा प्रसंग विद्यमान रहे । यथा:—

खुदा के नूर का मथ के समुन्दर, यही चौदह रतन काढ़े हैं बाहर ।
अगर फ़हमीद हिकमत आशना है, इसी नुसख़े में चौदह विद्या है ॥

जो थोड़ा सा भारतीयपन उर्दू में था वह 'नासिख़' के हाथों से दूर किया गया। फिर तो उर्दू, हिन्दी से ऐसी दूर भागी कि उसने अपना पृथक् ही क्षेत्र बना लिया। उस क्षेत्र से जगत्, चंचल, नार, गुन, अकास, धरम, धन, करम, दया, वीर आदि शब्द निकाल बाहर कर दिये गये। इसी प्रकार कमल, भँवरा, बसन्त, कोकिल, वर्षाऋतु, सावन, भीम, अर्जुन, कर्ण, भोज के सुन्दर उपाख्यान अपवित्र समझ कर छोड़ दिये गये। इस प्रकार उर्दू यहाँ की परम्परा, इतिहास और साहित्य से बहुत दूर अरब और ईरान के साहित्य, इतिहास और उपाख्यानों से परिपूर्ण हो गई। वह भारत के सामान्य जीवन से बहुत दूर चली गई, जान बूझकर गई, हिन्दुओं के विरोध के कारण नहीं। हिन्दू तो इतने पर भी उसे कुछ कुछ अपनाते रहे। भेद का बीज मुसलमानों ने स्वयं बोया। जिस हिन्दी को रहीम, रसख़ान, वाहिद और आलम जैसे प्रख्यात कवियों ने अपने सुदीर्घ जीवन में काव्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थों से प्रसारित किया था उसे आगे के मुसलमानों ने हिन्दुओं के लिये सीमित कर दिया। जिस भाषा में सय्यद ईशा अल्ला खाँ ने सुन्दर २ कहानियाँ लिखी थीं वह अब हिन्दुओं की भाषा कह कर अपमानित की जाने लगी। जिस सरल-सुबोध भाषा में मीर खुसरो ने मनोहर कहावतें बनाई थीं उसे अब हिन्दू जाति के भाग्य पर छोड़ दिया गया। तब से अब तक मुसलमान अपनी पृथक् भाषा का दावा करते आ रहे हैं। यह दावा कहां तक सत्य है आइये, इसकी भी परीक्षा करलें।

उर्दू ८ करोड़ की भाषा नहीं

मुसलमानों की ओर से प्रबलरूप से यह कहा जाता है कि भारत के ८ करोड़ मुसलमान उर्दू बोलते हैं। इसकी विचित्रता तब और भी बढ़ जाती है जब कुछ राष्ट्रीय लोग सत्य को ओझल कर केवल मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिये कहते हैं कि मुसलमान तो सब उर्दू बोलते हैं। कोई कोई तो यहाँ तक कह डालता है–'उर्दू तो हिन्दू-मुस्लिम कल्चर के मेल से वजूद में आई हुई एक मुश्तरक: ज़बान है, ऐसे लोगों से हमें पूछना है उर्दू की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये दक्षिणी कवियों की जो लम्बी सूची छपी है क्या उस में कोई हिन्दू भी है? 'आबेहयात' को ही लीजिये, उसके सबके सब कवि मुसलमान हैं। इतने पर भी न जाने कैसे इसे 'मुश्तरक: जबान' कहा जाता है? मेल से पैदा हुई भाषा की क्या यही सूरत होती है? इन महानुभावों से दूसरा प्रश्न यह करना है कि क्या आपने सारे भारत का कभी दौरा भी किया? क्या आपने यह जानने का यत्न भी किया कि विभिन्न प्रान्तों के

मुसलमान क्या बोलते हैं ? मुसलमानों की भारत में सब से अधिक संख्या बंगाल में है। २३ करोड़ से अधिक मुसलमान की मातृभाषा बंगाली है। बिहार का मुसलमान बिहारी, उड़ीसा का उड़िया, आंध्र का आंध्री, मद्रास का मद्रासी, महाराष्ट्र का मराठी, गुजरात का गुजराती, हिन्दप्रान्त का हिन्दी, सिन्ध का सिंधी और पंजाब का पंजाबी बोलता है। जिस २ प्रान्त में मुसलमान रहता है उसकी भाषा वही है जो उसका पड़ौसी हिन्दू बोलता है। प्रान्तीय भाषा के बिना उसका एक दिन जीना दूभर हो उठे जिस प्रकार जर्मन न जानने वाले का जर्मनी में रहना कठिन है। मद्रास के तो मुसलमानों को यह भी पता नहीं कि उर्दू का आरंभ कौन हाथ से होता है। उन्हें तो इसके स्वरूप का भी ज्ञान नहीं। स्वयं श्रीयुत जिन्ना गुजराती हैं और उनकी मातृभाषा गुजराती है। वे उर्दू बोलने में भी असमर्थ हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार केवल १% लोग उर्दू जानने वाले हैं। इनमें हिन्दू और सिक्ख भी सम्मिलित हैं, जिन्हें सरकारी पक्षपातपूर्ण तथा हिन्दू विरोधिनी नीति के कारण न्यायालय और सरकारी कार्य्यालयों में विवश होकर उर्दू अपनानी पड़ती है। घर में जाकर तो सर सिकन्दर भी पंजाबी बोलते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि यदि ८ करोड़ मुसलमानों की भाषा उर्दू है, प्रान्तीय भाषायें उनकी मातृभाषायें नहीं हैं तो क्यों नहीं मुसलमान उर्दू के सिनेमा गृहों में जाते ? क्या यह सत्य नहीं कि सिनेमा गृहों में बैठा हुआ मुसलमान 'प्रभात' 'न्यू थियेटर' और 'बाम्बे टाकीज़' में शान्ताआप्टे, काननबाला और देविकारानी के गीतों को उसी प्रकार समझता है जिस प्रकार उसके पड़ोस में बैठा हुआ हिन्दू। वहाँ वह 'उर्दू' की रट नहीं लगाता। वहाँ तो वह मस्त हुआ सिर हिलाता है, चुटकियां लेता है और वाह ! वाह ! की ध्वनि गुंजाता है। सिनेमा से उठकर रिकार्ड वाले की दुकान से रिकार्ड लाकर बार बार बजाता है और उसी आनन्द को फिर से ताजा करता है। मैंने पंजाब तक के मुसलमानों को गाते सुना-'इस मन उपवन में मधुर मधुर मुरली बाजे।' यह सब क्यों ? वहाँ अराष्ट्रीयता की ऐनक उतरी हुई है। क्या ये बातें इस ओर संकेत नहीं करतीं कि हिन्दू और मुसलमान की भाषा एक है। क्या मद्रास का मुसलमान मद्रासी भाषा के सिनेमा में न जाकर किसी ऐसे सिनेमा में जाता है जहाँ उर्दू में बोला जाता है ? क्या गुजराती भोरा उर्दू में व्यापार करता है ? और क्या बंगाली मुसलमान उर्दू में व्यवहार करता है ? यह तो 'बंगीय कृषक प्रजा पार्टी' इस नाम से ही स्पष्ट है। फिर समझ नहीं आता कि ८ करोड़ मुसलमानों की भाषा उर्दू कैसे कही जाती है।

राष्ट्रीयता की माँग

पाठक! यह युग राष्ट्रीयता का है। इस युग में कोई भी राष्ट्र राष्ट्रीयता के बिना नहीं जी सकता। राष्ट्रीयता के बल पर मृत राष्ट्र भी उठकर जीवित राष्ट्रों की श्रेणी में खड़े हो गये हैं। हमारे देखते ही देखते १५ वर्ष के भीतर रोम, मिश्र और टर्की जिन्हें लाश समझा जाता था, आज शेर बनकर गुर्राने लगे हैं। जर्मनी, जिसे नपुंसक बना डाला था आज एक एक करके अपने सब पुराने बदले चुका रहा है। आज हिटलर, चैम्बरलैन के पास नहीं अपितु चैम्बरलैन, हिटलर के पास समझौते के लिये आता है। यह सब किसका प्रताप है! उस राष्ट्रीयता का जो भिन्न २ धर्मों, भाषाओं, जाति-उपजातियों और संस्कृतियों में बंटे देश को माला की भाँति एक कर देती है। टर्की को ही लीजिये। आज टर्की में 'तुर्क, तुर्की के लिये है' यह नारा गूंज उठा है। उन्होंने अरबी के ५ लाख शब्द निकाल कर बाहर कर दिये हैं। शताब्दियों से चले आ रहे 'कुस्तुन्तुनिया' नाम को बदल कर तुर्की नाम 'इस्ताम्बूल' रख दिया है। स्वयं कमालपाशा ने 'मुस्तफा' हटाकर अपने साथ 'अतातुर्क' का प्रयोग किया। वे भी मुसलमान हैं। उनके लिये भी अरबी कुरान-ए-पाक की भाषा है। परन्तु वे एक कदम आगे हैं। वे राष्ट्रीय हैं। अत: उनके लिये तुर्की, अरबी से बढ़कर है। आज ईरान में राष्ट्रीयता का बोल बाला है। ईरानी लोग भी अरबी को धता बता कर ईरानी को अपना रहे हैं। वे व्यङ्गचित्र बनाते हैं। एक ऊँट अरबी पुस्तकों से लदा खड़ा है। उसे एक अरब खींच रहा है। पीछे एक ईरानी खड़ा चाबुक मार रहा है। नीचे शब्द लिखे हैं-'अरबी अरब को जाये, ईरान ईरानी के लिये है।' वे भी इस्लाम को मानते हैं। उनके लिये भी अरबी ईश्वरीय भाषा है। परन्तु वे ईरानी हैं। इस लिये ईरान उनके लिये अरब से बढ़कर है और ईरानी, अरबी से अधिक प्यारी है। क्या भारत के मुसलमान नहीं कह सकते- 'अरबी अरब को जाये, ईरानी-ईरान की राह ले, अंग्रेजी अंग्रेजों का दामन पकड़े, हिन्द केवल हिन्दी के लिये है'।

हिन्दी का स्वरूप

प्रश्न होता है कि यदि इस देश की भाषा हिन्दी है तो उसका स्वरूप क्या है? जिसकी एकमात्र जननी संस्कृत है, प्राकृत से रूपान्तरित होने के कारण जिसे स्वभावत: संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त है, जिसे १२ करोड़ भारतवासियों की मातृभाषा होने का गौरव प्राप्त है, २३ करोड़ व्यक्ति जिसे समझ सकते हैं और सब

से बढ़कर संस्कृत की प्रिय पुत्री होने से भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं के जा समीपतम है—उस भाषा का नाम 'हिन्दी' है। उसे ही ३७ करोड़ भारतीयों की राष्ट्र भाषा होने का गौरव प्राप्त है। वही एक मात्र बंगाली, गुजराती मराठी, कनाड़ी, मलयाली, तैल्गू, तामिल, पंजाबी और सिंधी बहिनों की हृदयदेवी बन सकती है। वही एकमात्र उनकी बांह में बांह डालकर उनका आलिंगन कर सकती है। परदेशी या अपरिचित को उनका करस्पर्श करने का भी अधिकार नहीं, हृदयासन पर बैठना तो दूर रहा। भारत की सभी प्रान्तीय भाषायें संस्कृत के कितना समीप हैं यह निम्न व्याख्या से स्पष्ट हो जायगा।

(क) संस्कृत—स्थितिं नो रे दध्या क्षणमपि मदान्धे क्षणसखे।
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां वन भुवि।
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा।
गुरुग्रावग्रामा स्वपिति गिरिगर्भे हरिपति॥

इसे इसी छन्द में 'मराठी' में किया जाता है। समानता देखिये—
मराठी—गजालिश्रेष्ठा या निबिड़तर कान्तार जठरीं।
मदान्धाक्षा मित्रा क्षणभरिहि वास्तव्य न करी।
नखाग्राणां ये थे गुरुतर शिला भेदुनि करी।
भ्रमाणे आहे रे गिरि कुहरिं हा निद्रित हरि॥

(ख) संस्कृत—दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥
इसे 'तैल्गू' में किया जाता है। समानता देखिये—
तल्गू—
दानमु भोगमु नाशमु हूनिकतो मुडूगतलू भुवि धनमुनकम्।
दानमु भोगमुनिरुगने दीननि धनमुनकगति तृतीय मे पोसगुन्॥

(ग) संस्कृत—
बुभुक्षितः किं न करोतिपापं, क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति।
आख्याति भद्रे! प्रियदर्शनस्य, न गङ्गदत्तः पुनरेपि कूपम्॥

इसे 'मुल्तानी' में किया जाता है। समानता देखिये—
मुल्तानी—
भुक्खे करेंदे क्या नहीं हे पाप, हीणे जणे निर्दयी वे दिन बण।
आखीं री भल्ली प्रियदर्शनणों, न गङ्गदत्त वल्ल आसी खूंते॥

(घ) कनाड़ी—रवि आकाश के भूषणं, रजनिगं चन्द्रं महाभूषणम् ।
कुश्ररं वंश के भूषणं, सतिगे पातिव्रत्यवे भूषणम् ।
हवि यज्ञाड़िके भूषणं, सरसि अम्भोजाहगड़ भूषणम् ।
कवि आस्थानके भूषणं, हरहर: श्रीचन्न सोमेश्वर: ॥

(ङ) तामिल—श्रीरामर मिथुलिमा नगर चेण्ड़ं शिवधनुषै अतिशीघ्रं वडैथु जनकपुत्रि सीता देव्यै विवाहं चेदु कोण्डार । प्रजैकल दम्पति कुलै: अञ्जिहारं शैदनत् ।

(च) बंगला—सुजलां सुफलां मलयजशीतलां मातरम् । वन्दे मातरम् ।

(छ) गुजराती—फरी खूने खूने जगत निरख्युं नेत्र सदू ये ।
जरा व्याधि मृत्यु त्रिविध बडलें जीवमरतां ।
अरो बीजा जीवो उपर निभतां जीव निरख्यां ।
घुम्यां शान्ति अर्थे वन वन तपो तीव्र तप्यां ॥

पंजाबी—इक ओंकार सत नाम करता पुरुख निरपौ निरवैर अकालमूरत अयोनि सो पंग गुरपरसाद । जप आदि सच युगादि सच है वी सच नानक हो सी वी सच ।

इन उद्धरणों को पढ़कर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता कि सभी प्रान्तीय भाषाओं में सर्वनिष्ठतत्त्व संस्कृत है । प्रान्तीय भाषाओं में 'संस्कृत शब्दों की कितनी प्रधानता है इसे दर्शाने के लिये अप्रसिद्ध 'मुल्तानी' का यहाँ वर्णन किया जाता है—

संस्कृत	मुल्तानी	संस्कृत	मुल्तानी	संस्कृत	मुल्तानी
शिर	सिर	कच्छ	कछ	सन्देश	सन्देस
प्रभात	प्रभात	केश	केस	दुग्ध	डुद्ध
वेला	वेला	कुक्कुट	कुक्कुड़	विश्वास	विस्वास
जल	जल	नाग	नाँग	भ्रम	भरम
कल्याण	कल्याण	जंघा	जंघ	ब्राह्मण	बाम्मण
क्षीर	छीर	अक्षि	अक्ख	मलमूत्र	मलमुत्र
अम्बा	अम्माँ	सज्जन	सज्जण	काष्ठ	काठ
वाह	वा	लक्षण	लच्छण	वस्त्र	वस्त्र
पत्र	पत्र	अमावस्या	मावस्या	पूर्णिमा	पूर्णमाँ
अन्नजल	अन्नजल	अक्षर	अक्खर	त्रय	त्रय
पक्ष	पक्ष	सप्त	सत्त	चन्द्र	चन्द्र

ये थोड़े से शब्द दिखाये गये हैं। मराठी, गुजराती, कनाडी, तामिल और बंगला में तो ये ५० से ७५% तक हैं। उनमें संस्कृत की विभक्तियाँ भी जैसी की तैसी रह गई हैं। यथा मुल्तानी में—धीजीवी, पुत्रजीवो आदि प्रयुक्त होता है। हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हमारी भाषा प्रान्तीय भाषा के समीप रहे। ऐसा करना कठिन नहीं क्योंकि दोनों की माता एक ही 'संस्कृत' है। इससे जहाँ प्रान्तीय लोगों को हिन्दी सीखने में सुविधा होगी वहाँ नवीन शब्द आने से हिन्दी कोष की भी अभिवृद्धि होगी। मुझे दुःख से लिखना पड़ता है कि हिन्दुस्तानी के प्रचारकों ने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने हिन्दी को मद्रासी जनता के समीप लाने की अपेक्षा अरब और ईरान के निकट ला दिया है। मद्रास प्रान्त के लिये तय्यार की गई 'हिन्दुस्तानी' की प्रथम पुस्तक को देख कर यह सन्देह होने लगता है कि यह भारत के लिये लिखी गई है या ईरान के विद्यार्थियों के लिये। पुस्तक को देखते ही यह प्रभाव पड़ता है कि लेखक को हिन्दी से वैसी ही विरक्ति हो गई है जैसी भर्तृहरी को स्त्रियों से हुई थी। पंक्तिभ्रष्ट होकर आये हिन्दी शब्दों को भी गर्दन मसोस दी गई है। यथा 'अमृत' को 'अमरत' और 'यत्न' को 'जतन' आदि। भाषा के साहित्य को परिवर्तित करने के लिये उसकी पृष्ठ पोठिका भी बदल दी गई है। उन्हें राम, सीता, कृष्ण और रुक्मिणी के नाम स्मरण कराने की अपेक्षा असद, सईदा और असलम के नाम याद कराये गये हैं। लिपि ही देवनागरी है अन्यथा उसे उर्दू कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। सो किस प्रकार, यह तालिका से स्पष्ट हो जायेगा —

हिन्दुस्तानी	कनाड़ी	तैलगू	तामिल	मलयालम
(१) उस्ताद	उपाध्याय, अध्यनवरु	अध्यापकलू	उपाध्यायम्, उपात्यायर	उपात्यारे
(२) दफ़्तर	कार्यालय	कार्यालय	कार्यालयम्	कार्यालयान्ते
(३) तर्जुमा	अनुवाद	अनुवाद	अनुवादम्	अनुवादम्
(४) ज़बान	वाणी	भाषा, वाणी	भाषा, वाणी	भाषा
(५) सबक़	पाठ	पाठमुलू	पाडम्	पाडम्
(६) हरूफ	अक्षर	अक्षरम	अक्षरम्	अक्षरम्
(७) मदरसा	पाठशाला	पाठशाला	पाडशाले	पाडशाला
(८) मर्ज	रोग, व्याधि	व्याधिलु, रोगमु	व्याधि, रोगम्	नोवु
(९) जन्नत	मोक्ष	मोक्षमु	मोक्षम्	मोक्षम्

(१०) रब	ईश्वरन्	ईश्वरन्	भगवन् / ईश्वरन्	देव / ईश्वरन्
(११) कसरत	व्यायाम	व्यायाम	शरीराभ्यास / देह पैरचि	कसरते
(१२) मजहब	सम्प्रदाय / मत	सम्प्रदायमु / मतमु	मतम	मदम

इस पर किसी प्रकार की टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं। शब्द अपनी कथा आप कहते हैं। जिस भाषा की प्रथम पुस्तक की यह दशा हो तब अगली तो सीधा अरब में छोड़ कर ही दम लेगी। आश्चर्य है इस पर भी मौलाना अब्दुल कलाम आजाद साम्प्रदायिक चश्मा लगा कर कहते हैं–यही भाषा है जिसे सर्व प्रान्तीय भाषा होने का अधिकार प्राप्त है। यदि इसे ही राष्ट्रभाषा बनने का अधिकार है तो मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि प्रत्येक सच्चे राष्ट्रीय व्यक्ति का यह राष्ट्र-धर्म है कि वह ऐसी राष्ट्रभाषा का घोर विरोध करे। मैं राष्ट्रीय हूँ। हिन्दुस्तानी के विरोधी राष्ट्रीय हैं, मौलाना आजाद के दिल पर नहीं अपितु अपने दिल के टिकट पर। मैं डंके की चोट कहता हूं–हिन्दी वह भाषा है जो मध्यदेश अर्थात हिन्दप्रान्त, बिहार, महाकोशल, राजस्थान, दिल्ली तथा पूर्वीय पञ्जाब के करोड़ों लोगों की मातृभाषा है और जिसे संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है। वही इस देश की राष्ट्रभाषा बनने की सच्ची अधिकारिणी है। उसके बीच किसी विदेशी को चूँ भी करने का अधिकार नहीं है। जब तुर्की और ईरानी के सामने अरबी मुंह सीकर बैठती है तो हिन्दी के सम्मुख बोलने वाली यह उर्दू होती कौन है? संसार के किसी भी देश में बहुमत ने अल्पमत के लिये अपनी भाषा नहीं बदली फिर भारत में १ सहस्र वर्ष से चली आ रही हमारी परम-पावन मातृभाषा को विदेशी शब्दों से अपवित्र करने का ये देशद्रोही साहस ही कैसे करते हैं। अरबी और ईरानी को पनपने के लिये अन्य देश बहुत हैं किंतु संस्कृत और हिन्दी का तो इस देश को छोड़ कर अन्य कोई सहारा ही नहीं। यदि वह यहां ही न रही तो फिर कहीं न रही। उसे खोकर प्राप्त की हुई स्वतंत्रता भी परतन्त्रता है, स्वराज्य भी पर राज्य है, उसे नष्ट कर भारत, भारत नहीं गारत बन जायेगा। मैं कहता हूं जब तक एक भी स्वाभिमानी भारत में जीवित है वह इस अपमान को सह नहीं सकता देह में रक्त की एक बिंदु भी शेष रहते इस निशाचरी से हम जूझेंगे और हमें आशा है हम विजयी होंगे।

हिन्दी ही क्यों ?

हिन्दी और उर्दू की प्रतियोगिता में हिन्दी ही क्यों राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है, इसमें निम्न युक्तियां दी जा सकती हैं:—

(क) उर्दू विदेशी है और हिन्दी स्वदेशी। कोई कह सकता है कि उर्दू तो भारत में ही उत्पन्न हुई है फिर विदेशी कैसे? जिस प्रकार उन कम्पनियों और कारखानों को अपनाना देश के लिये घातक हैं जिनकी पूंजी विदेश में लगी है उसी प्रकार उन भाषाओं को अपनाना देशद्रोह है जिनका आधार विदेश है। हिन्दी का आधार (संस्कृत) भारतीय है और उर्दू का आधार (अरबी-फारसी) अभारतीय है। परिणामतः उर्दू को अपनाने से हमारी शक्ति विदेशी भाषाओं के उत्थान में लगेगी और हिन्दी को अपनाने से संस्कृत का अभ्युदय होगा।

(ख) उर्दू में विजेतापन की बू है और गुलामों से अपनाई हुई की गन्ध है। इसके विपरीत हिन्दी में विजयी और स्वतन्त्र होने की अपरिमेय लालसा है।

(ग) उर्दू समझने वालों की संख्या अत्यल्प है और हिन्दी समझने वाले करोड़ों हैं। १२ करोड़ की यह मातृभाषा है। ११ करोड़ इसे समझ सकते हैं। इस प्रकार प्रति ३५ मनुष्यों में से २३ हिन्दी को समझने वाले हैं और उर्दू को समझने वाले १०० में १, ५० में ½, ३५ में गणना कर लीजिये।

(घ) भारत की सभी भाषाओं का आदिस्रोत संस्कृत है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार प्रति १०० में ६१ व्यक्ति ऐसे हैं जो उन भाषाओं को बोलते हैं जिनके कोष का समन्वय संस्कृत कोष से हो सकता है। अतः राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जो संस्कृत के अधिकतम निकट हो। यह स्थान हिन्दी को ही प्राप्त है उर्दू को नहीं।

(ङ) भारत का कोरिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, स्याम, हिन्दचीन, नैपाल, बाली और लंका के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध धर्म के आधार पर है और बौद्ध धर्म तथा हिन्दू धर्म के सभी ग्रन्थ संस्कृत तथा पाली में हैं। यदि भारत को इन देशों के साथ सम्बन्ध रखना है, जैसा कि मैं समझता हूं रखना है, तो भारत की भाषा वही होनी चाहिये जो उनके अर्थात संस्कृत के अधिकाधिक समीप हो। यह निश्चय ही हिन्दी हो सकती है।

(च) इस देश में सहस्रों वर्षों से एक साथ रहते हुए यहां के निवासियों ने एक साहित्य, एक इतिहास, एक संस्कृति और एक कथासागर को विकसित किया है। वह हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये एकसा है क्योंकि दोनों के पूर्वज एक हैं। इस देश की राष्ट्रभाषा में उन उपाख्यानों और साहित्य का वर्णन होना आवश्यक है। इसी से भारतीय संस्कृति अमर रह सकती है। उनका वर्णन हिन्दी में ही है, उर्दू में नहीं। उर्दू वाले तो भारत की 'कोयल' हटाकर चमनिस्तान की 'बुलबुल' सरों पर बिठा रहे हैं। वे

'बाल्मीकि' और 'व्यास' से मुंह मोड़ कर 'सुकरात' और 'अफलातून' के गीत गा रहे हैं। वे 'भीम' न कह कर 'रुस्तम' बोलते हैं। वे सौन्दर्य की प्रतिमा कमल' से चिढ़ कर रेगिस्तान की 'खजूर' अपना रहे हैं। उर्दू का प्रवाह केवल बहिर्मुख ही नहीं उसका उद्गम भी विदेशी बन रहा है। जिसकी आत्मा और दृष्टि ही अपनी नहीं वह कैसे राष्ट्रभाषा बन सकेगी, यह आप स्वयमेव विचार लें। प्रान्तीय भाषाओं के संरक्षण के साथ २ राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही होगी। उर्दू किसी भी प्रान्त की भाषा नहीं, किसी जाति विशेष की भी भाषा नहीं तथापि यदि मुसलमानों को उर्दू के लिये आग्रह ही हो तो वे प्रसन्नता पूर्वक पढ़ सकते हैं। उनके लिये ७८% हिन्दुओं पर उर्दू थोपना अन्याय ही नहीं भयंकर पाप है। यदि मुसलमानों को हिन्दुओं से सम्पर्क रखना है तो उन्हें विवश होकर राष्ट्रभाषा हिन्दी को सीखना पड़ेगा।

(छ) हिन्दी, उर्दू को अपेक्षा अधिक सरल अधिक वैज्ञानिक तथा अधिक परिपूर्ण भाषा है।

(ज) हिन्दी प्राचीन है और उर्दू नवीन है। हिन्दी का काल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक जाता है और उर्दू ढाई सौ वर्ष से पुरानी नहीं है।

(झ) हिन्दी में सब प्रकार का साहित्य है। हिन्दी की जननी संस्कृति होने से इसे अपरिमेय कोष और शब्द भण्डार उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। दूसरी ओर उर्दू में कुछ विशेष प्रकार का साहित्य ही पाया जाता है।

(ञ) भारत से बाहर जहाँ जहाँ भी भारतीय लोग आवासित हैं उनकी बोलचाल की भाषा हिन्दी है। उनसे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये हिन्दी ही राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है।

(ट) इन सबसे बढ़ कर संसार का यह नियम है कि बहुमत की भाषा ही राष्ट्र भाषा होती है। हमारे देश में बहुमत की भाषा हिन्दी है। अतः यही राष्ट्रभाषा कहलाने के योग्य है। इस प्रकार आगामी जनसंख्या के समय तक हिन्दी ४० करोड़ भारतीयों की राष्ट्रभाषा होगी। इस प्रकार हमारी भाषा को बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक होगी। क्या ऐसी भाषा उपेक्षणीय है ? कभी नहीं, तीन काल में नहीं।

हृदय की आवश्यकता

प्रश्न यह है कि हम हिन्दी को इस पद तक पहुँचायें कैसे ? संसार में जितने महान् कार्य आज तक हुए हैं वे सब हृदय की धधकती आग के साक्षात् स्व-

रूप हैं। जब हृदय बोलने लगता है तो बड़े बड़े मस्तिष्कों पर ताले ठुक जाते हैं। हृदय का यही चमत्कार है कि जिन वस्तुओं को हम थोथा कह कर टालना चाहते हैं वही इतिहास के पन्नों पर जमकर आसन लगाये बैठी हैं क्योंकि वे हिन्दी हृदयों की धड़कन के साक्षात् स्वरूप हैं। जब तक आन्दोलनों में हृदय की धड़कन रहती है तब तक उनमें जीवन रहता है और वे आग की भाँति फैलते हैं। यही बात भाषाओं के विषय में है। आज जो भाषायें जीवित हैं, उनकी तह में यही नियम काम कर रहा है।

भारत के साथ बर्मा का देश है। इस देश में फ्रैंच लोगों की संख्या अत्यल्प है। १% भी फ्रैंच लोग बर्मा में नहीं हैं। फिर भी बर्मा का कोई नगर ऐसा नहीं जहाँ का डाकस्वामी और डाकिया फ्रैंच न जानता हो। ऐसा क्यों है? उत्तर सीधा है। फ्रैंच भाषा में लिखा एक पत्र एक बार बर्मी सरकार ने 'अपठित पत्र कार्यालय' में भेज दिया। फ्रैंच हृदय इस अपमान को न सह सका। प्रत्येक फ्रैंच ने दृढ़ व्रत धारण किया कि हम अपना सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार फ्रैंच में ही करेंगे। अगले ही दिन फ्रैंच पतों से पत्र पेटियाँ भरने लगीं। बर्मी सरकार परेशान हो गई। अन्ततः सरकार झुकी और निश्चय हुआ कि बर्मा के प्रत्येक नगर में ऐसे लोग डाकिये और डाकस्वामी रक्खे जायें जो फ्रैंच भी जानते हों। एक वे भी हैं और एक हम भी हैं। नगण्य फ्रैंच लोगों ने बर्मी सरकार को झुका लिया और हम २३ करोड़ की भाषा वाले होते हुए भी नित्यप्रति अपनी आँखों के सम्मुख अपनी भाषा का अपमान देखते हुए भी चुप हैं। क्यों? हम में संगठन नहीं। संगठन क्यों नहीं? उत्तर मिलेगा, हृदय नहीं।

'सिनफीन' आन्दोलन के प्रवर्तक आयरिश देशभक्तों ने जब अपनी भाषा के आदर का प्रश्न उठाया था उस समय उसे बोलने वालों की संख्या ६% थी। परन्तु उनके हृदय में बल था और आत्मा में दृढ़ विश्वास, इसी समय आयर्लैण्ड में एक विश्वविद्यालय खुला। उसमें अंग्रेज़ी के उपाध्याय का वेतन आयरिश के उपाध्याय से दुगुना था। यह देख आयरिश देशभक्तों का रुधिर खौल उठा। उन्होंने निश्चय किया कि जब तक हमारी भाषा का उचित सम्मान न किया जायेगा तब तक एक भी विद्यार्थी पढ़ने न जायेगा। विद्यालय खुला, उपाध्याय आये, चपरासी नियत वेष धारण किये पंक्ति में खड़े हुए, उपस्थिति पंजिका खुली, कलम ने स्याही में स्नान भी किया, परन्तु जिसकी उपस्थिति ली जाती ऐसा एक भी वहाँ उपस्थित न था। एक-एक मिनिट करके घण्टा बीता, घण्टों ने मिल-मिल कर दिन बनाया, दिन जुड़-जुड़ कर सप्ताह हुआ, सप्ताहों का मास बना और इस प्रकार तीन मास बीत गये। एक भी लड़का पढ़ने न गया। निदान वह ब्रिटिश सरकार

जिसके राज्य में शताब्दियों से सूर्यास्त नहीं हुआ, उन विद्यार्थियों की माँग के सम्मुख झुकी और दोनों उपाध्यायों का वेतन समान करना पड़ा। एक वे भी हैं और एक हम भी हैं जो प्रतिदिन अंग्रेज़ी और उर्दू के सम्मुख अपनी भाषा का अपमान सहते चले जाते हैं और उसके उत्थानार्थ चीची अंगुली हिलाना भी पाप समझते हैं। कहाँ तो आयरिश नेता डी वेलरा, जो अंग्रेज गवर्नर से अंग्रेज़ी में बात करने से इन्कार कर देता है और कहाँ हमारे नेता जो अंग्रेज़ी बोलने से लज्जित होना तो दूर रहा अपितु शेखी बघारते हैं। दोनो हृदयों में कितना भेद है।

दक्षिण अफ्रीका में बोर (डच) लोगों की पर्याप्त संख्या है। जब अंग्रेजों ने इस पर अधिकार कर लिया तो बोर नेता जनरल बोथा ऐडवर्ड सप्तम से मिलने लण्डन गया। वह जाकर महल पर चुपचाप खड़ा हो गया। द्वारपाल ने अंग्रेज़ी में अनेक प्रश्न पूछे परन्तु बोथा ने कोई उत्तर न दिया। अन्ततः ऐडवर्ड स्वयं आया। उसने देखा यह तो बोथा खड़ा है। यह तो अंग्रेज़ी बहुत अच्छी जानता है, फिर बोलता क्यों नहीं ? उसे ध्यान आया कि जब पराधीन जाति के नेता का अपनी भाषा से इतना प्रेम है फिर मैं तो स्वाधीन जाति का सम्राट् हूँ, मैं अपनी भाषा कैसे छोड़ सकता हूँ। ऐडवर्ड और बोथा—दोनों ने एक दूसरे की भाषा को जानते हुए भी अपनी २ भाषा के सम्मानार्थ दुभाषिये द्वारा बात करना ही श्रेयस्कर समझा। कहाँ तो सेनापति बोथा जो राजा के घर जाकर भी अपनी भाषा नहीं छोड़ता और कहाँ हम जो घर में ही अपनी भाषा की चिता जला रहे हैं।

इसी दक्षिण अफ्रीका में डच लड़कियों का एक विद्यालय है। जार्ज पंचम की रजत-जयन्ती के उपलक्ष्य में लड़कियों को सरकार की ओर से चीनी के वर्त्तन भेंट में दिये गये। उन पर अंग्रेज़ी तो लिखी थी पर डच न थी। यह देख लड़कियों ने बर्त्तन पृथ्वी पर पटक मारे। जब आचार्य्या ने कहा तुमने राजा का अपमान किया है। तो लड़कियों ने बस यही उत्तर दिया ये हमारी भुजाएं हैं काट दो, यह छाती है उड़ादो। किन्तु बाहुएं कट जाने पर, गर्दन टूट जाने पर और गोली खा लेने पर भी हमारा भाषा-प्रेम हम से छूट नहीं सकता। कहां तो वे छोटी २ बालिकायें जो उपहार के बर्त्तनों पर भी विदेशी भाषा सहन नहीं करतीं और कहाँ हम जिनके सिक्कों, टिकटों और घर के लेखे में भी राष्ट्रभाषा का स्थान नहीं है।

कुछ समय हुआ 'अलसेस' और 'लॉरेन' के फ्रैंच प्रदेश जर्मनी ने जीत लिये। जर्मन लोगों ने वहां से फ्रैंच भाषा का समूलोन्मूलन करने का निश्चय कर लिया। सरकारी आज्ञायें केवल जर्मन में निकलतीं। दुकानदारों को आज्ञा दी

गई कि वे अपनी दुकानों का नाम जर्मन में लिखें। ऐसी विकट परिस्थिति में एक दिन जर्मनी की रानी कैसराईन एक विद्यालय का निरीक्षण करने गई। वहाँ वह एक १० वर्षीय बालिका से प्रसन्न हो गई। रानी ने बालिका से कहा—"मैं तुम से बहुत प्रसन्न हुई हूँ, तुम जो चाहो सो मांगो।" बालिका ने रानी से सम्बोधन कर कहा—रानी! यदि तुम मुझ से सचमुच प्रसन्न हुई हो तो मेरी भाषा मुझे लौटा दो। मैं चाहता हूँ कि मेरे देश में भी ऐसी बालिकायें उत्पन्न हों जो सांसारिक सुखों को छोड़ अपनी भाषा का वरदान माँगें। मेरे देश की बालिकाओं में भी वह दिल धड़के जो उस फ्रैंच बालिका में धड़का था।

कार्लाईल ने एक स्थान पर लिखा है—"यदि अंग्रेजी और अँग्रेज़ी साम्राज्य में विकल्प हो तो मैं अंग्रेज़ी को लूंगा और अंग्रेज़ी साम्राज्य को ठुकरा दूंगा।" कहां तो यह भावना और कहां हमारे देशवासी हिन्दी को ठुकरा कर उर्दू और अंग्रेज़ी की चाटूकरी करना पसन्द करते हैं। यह क्यों? हमारे में वह हृदय ही नहीं जो दूसरों में है। हम तो अंग्रेज और मुसलमान का मुंह देखते ही अपनी भाषा भूल जाते हैं। उसे प्रसन्न करने के लिये न जानते हुए भी अंग्रेज़ी और उर्दू बोलने में अभिमान मानते हैं। दूसरों को प्रसन्न रखना बुरा नहीं परन्तु अपने को दीन-हीन समझना पाप है। यदि हम में तनिक भी स्वाभिमान होता तो अपनी माँ की दयनीय दशा देखते हुए भी विमाताओं के पीछे मुग्ध हुए न दौड़ते।

माँ की दशा निहारो

आज हमारी माँ खड़ी है। उसकी जिह्वा कट चुकी है। मुंह से रुधिर-धारा बह रही है। आँखों से लहू टपक रहा है। भक्त आते हैं। माँ भक्तों से पूछती है पुत्रो! क्या मेरी इच्छा पूर्ण करोगे? भक्त सिर हिलाते हैं, हाँ। माँ पूछती है मुझे क्या दोगे? भक्त कहते हैं श्रद्धा के दो चार सुन्दर फूल। माँ दुःख से सिर नीचा कर लेती है और लहू में पलकें डुबो कर एक २ आँख से लहू की एक २ बून्द गिराकर पूछती है प्यारो! क्या मेरी रक्षा में तुम यह दे सकते हो? सावरकर आगे बढ़कर कहता है माँ मेरा सिर प्रस्तुत है। वही चित्र फिर आता है। एक शिशु और दो व्यक्ति। एक भारत और दो भाषायें। हिन्दी और उर्दू। सावरकर और जिन्ना। माँ आती है और बच्चे का हाथ सावरकर के हाथ में देकर चली जाती है। बोलो—

राष्ट्रपति सावरकर की जय! राष्ट्रभाषा हिन्दी की जय! भारतमाता की जय!

वन्देमातरम्

सम्वत् १९९६] प्रकाशक—आर्य्यसमाज, पहाड़गंज, देहली [प्रथमावृत्ति १०००

मुद्रक—बालूजा प्रेस, फतेहपुरी, देहली।